बिहार का सामाजिक तथा राजनीतिक परिदृश्य, 1934–37 : एक अध्ययन

डॉ॰ सीमा कुमारी

सहायक प्रोफेसर, इतिहास विभाग, पंडित यमुना कार्यी कॉलेज, ढ़ोली, मुजफ्फरपुर, (बिहार) भारत

सार–संक्षेप

ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने परम्परागत सामाजिक प्रथाओं एवं आर्थिक संरचनाओं का दोहन अपने हित में करते हुए बिहार की सामाजिक एवं आर्थिक संरचनाओं में इस तरह का सुधार किया था कि ऊपर से देखने पर समाज में नवीन सुधार दृष्टिगोचर हो रहे थे, परन्तु समाज का वास्तविक तौर पर नवीनीकरण नहीं हुआ था। कृषि पर आधारित समाज मुख्यतः धनी एवं गरीब किसान वर्गों में बंट कर आकाश–पताल की दूरी तथा असमान लिए हुए था– इतनी अधिक कि परम्परागत समाज की कड़ी को तोड़ने के लिए दोनों छोरों का संघर्ष या पारस्परिक सहयोग बहुत दूर की बात थी। इसी पृष्टभूमि में ब्रिटिश सामाज्यवाद बिना किसी प्रत्यक्ष एवं आसन्न खतरा के अच्छी तरह बिहार का सामाजिक एवं आर्थिक दोहन कर रहा था। जैसे–जैसे बिहार की जनसंख्या बढ़ी और जमीन पर उसका दवाब बढ़ा तो उसके अनेक आर्थिक एवं सामाजिक परिणाम उभरे।

मुख्य शब्द– साम्राज्यवाद, संरचना, आर्थिक, दृष्टिगोचर, आन्दोलन, शताब्दी, संघर्ष

1934 से 1937 के बिहार के सामाजिक एवं राजनीतिक परिदृश्यों को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए हमें यहाँ की भूमि, जनसंख्या, आर्थिक एवं राजनैतिक अवस्थाओं तथा उन सामाजिक एवं वैचारिक संस्थाओं एवं संरचनाओं को समझना होगा, जिनकी पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय आन्दोलन उभरा। 20वीं शताब्दी के शुरूआत में बिहार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्तर्गत एक अत्यन्त पिछड़ा वर्ग का प्रान्त था। लगभग पूर्ण रूप से खेती पर आधारित यह प्रान्त सामाजिक तौर पर गहरी जटिलताओं एवं विद्वेषों को अपने गर्भ में छुपाए हुए था, यद्यपि ऊपर से सब कुछ ठीक–ठाक दिखाई पड़ रहा था। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने परम्परागत सामाजिक प्रथाओं एवं आर्थिक संरचनाओं का दोहन अपने हित में करते हुए बिहार की सामाजिक एवं आर्थिक संरचनाओं में इस तरह का सुधार किया था कि ऊपर से देखने पर समाज में नवीन सुधार दृष्टिगोचर हो रहे थे, परन्तु समाज का वास्तविक तौर पर नवीनीकरण नहीं हुआ था।

कृषि पर आधारित समाज मुख्यतः धनी एवं गरीब किसान वर्गों में बँट कर आकाश–पताल की दूरी तथा असमान लिए हुए था– इतनी अधिक कि परम्परागत समाज की कड़ी को तोड़ने के लिए दोनों छोरों का संघर्ष या पारस्परिक सहयोग बहुत दूर की बात थी। इसी पृष्टभूमि में ब्रिटिश साम्राज्यवाद बिना किसी प्रत्यक्ष एवं आसन्न खतरा के अच्छी तरह बिहार का सामाजिक एवं आर्थिक दोहन कर रहा था।[1] जैसे जैसे बिहार की जनसंख्या बढ़ी और जमीन पर उसका दवाब बढ़ा तो उसके अनेक आर्थिक एवं सामाजिक परिणाम उभरे। इसी पृष्ठभूमि में 1917 से 1939 तक अनेक आर्थिक एवं राजनैतिक उथल–पुथल से बिहार गुजरा एवं

ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा उनके द्वारा प्रेषित पूंजीवाद ने यथासंभव उनसे अपने को सुरक्षित रखने का भरपूर प्रयास किया। इसी दौरान बिहार धीरे–धीरे कॉंग्रेस तथा महात्मा गाँधी के सम्पर्क में आया। राष्ट्रीय आन्दोलन की हवा से प्रभावित हुआ।

सामाजिक संरचना एवं शोषण की यह ग्रामीण प्रवृत्ति एवं प्रकृति गाँवों से बाहर निकलकर शहरी समूहों को भी प्रभावित कर रही थी। ब्रिटिश अधिकारियों के द्वारा भी यही संरक्षित थी। संक्षेप में कहा जाए तो गाँवों की इस संरचना एवं शोषण की प्रकृति में आपसी सहयोग एवं संघर्ष के बहुत ही मिश्रित एवं किल्कट तत्त्व वर्तमान थे जो कि सीधे तौर पर वर्गगत संघर्ष के लिए उचित भूमि नहीं पैदा कर रहे थे।[1] उदाहरणार्थ जब जमींदारों के बीच स्वार्थ टकराते थे तो जमींदारों में आपसी संघर्ष होते जब जमींदारों का स्वार्थ रैयतों से टकराता था तो जमींदार जमींदार आपस में मिल जाते थे। इसी तरह रैयतों के बीच आपसी संघर्ष होते थे और उनके स्वार्थ मजदूरों एवं गरीब किसानों से टकराते थे तो वे आपस में मिल जाते थे। विभिन्न कारणों के चलते शोषित वर्ग भी अपने शोषणकर्त्ता के विरूद्ध एकजुट नहीं हो सकते थे। उनमें जातिगत सामाजिक विभाजन महत्त्वपर्ण भूमिका निभाता था। साथ ही साथ खेती पर आश्रित छोटे–छोटे गरीब किसान एवं कृषि मजदूर आर्थिक सहायता की अपेक्षा की भूमि में अपने मालिकों से विद्रोह भी नहीं कर सकते थे, क्योंकि तब उन्हें भूखों मरने की स्थिति से गुजरने का भय था। ऐसा इसलिए कि आर्थिक आजीविका के अन्य साधन गाँवों में पर्याप्त मात्रा में मौजूद नहीं थे और गाँवों से बाहर जाकर धन कमाने की उनकी न तो स्वतन्त्र हैसियत बनती थी और न ही उनकी उस तरफ कोई उत्प्रेरणा थी। सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक दृष्टिकोण से वे काफी पिछड़े थे और बाहर धन कमाने की उत्प्रेरणा का उनमें नितान्त अभाव था।

ऐसी स्थिति में गाँवों की पूरी की पूरी आवादी जमीन पर ही निर्भर थी और वह भी परम्परागत तरीके की खेती पर जो बिल्कुल ही अलाभप्रद एवं उपेक्षित तरीके से की जाती थी।

महाराज गाँवों के बाहर बैठे बड़े–बड़े जमींदार खेती में सुधार की ओर से उदासीन थे, क्योंकि उनके पास इतनी अधिक जमीन थी कि उक्त अलाभकर खेती से भी उन्हें इतनी अधिक आमदनी होती थी कि वे पर्याप्त भोग–विलास की जिन्दगी जीने के काबिल थे। उदाहरणार्थ उत्तर बिहार में दरभंगा के रामेश्वर सिंह, जो मुगलों से 1556 में ही प्राप्त जमींदारी के वंशजों में से थे और जो मैथिल ब्राह्मण समुदाय के थे, के पास 450 वर्ग मील जमीन थी जो कि पूरे उत्तर बिहार के रकवा का 11 प्रतिशत थी। रामेश्वर सिंह को भूमि से लगान वसूली के बतौर लगभग 4,000,000 लाख रूपया प्रतिवर्ष आता था।[2] दरभंगा महाराज के बाद बड़े जमींदारों में हथुआ महाराज एवं बेतिया महाराज का स्थान था।[3] दरभंगा महाराज अपनी पूरी आमदनी का 10 प्रतिशत सरकार को भू–राजस्व के बतौर देते थे और 10 से 15 प्रतिशत प्रशासनिक कार्यो पर खर्च करते थे। बाकी के पैसों का वे राजाओं एवं महाराजाओं की शान–शौकत एवं भोग–विलास की परम्परा के अनुसार उन पर ही खर्च करते थे। यही हाल अन्य बड़े जमींदारों का था।[4] खेती की पैदावार बढ़े इस पर वे बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते थे। जो कुछ भी उपज होती थी उसका अनुत्पादक कार्यों में व्यय करते थे। इस परिस्थिति में बढ़ती हुई जनसंख्या का

निरन्तर दबाव खेती पर ही पड़ रहा था और इस जमींदारी व्यवस्था में आम आदमी, जिनके परिश्रम से खेती की जा रही थी, दिन प्रतिदिन दरिद्र होता जा रहा था। ब्रिटिश उपनिवेशवाद इस व्यवस्था को ही बरकरार रखने के कानून बनाती रही थी और आगे भी चाहती थी कि मात्र कुछ सुधारों को लागू करके इसी व्यवस्था को जीवित रखा जाए तो उन्हें भी भू–राजस्व मिलता रहे और किसी तरह का विद्रोह करने की ताकत आम जनता को प्राप्त न हो जाए। इसीलिए वे न तो कृषि के क्षेत्र में किसी का क्रांतिकारी सुधार के पक्ष में थे और न ही वे अन्य आर्थिक उपबन्धों को जुटाने के पक्ष में थे ताकि कृषि पर से भार को कम करके पूजा को सुखी एवं सम्पन्न बनाया जा सके। वे तो मात्र परम्परागत तरीकों का ही प्रयोग करके या उनमें थोड़ा बहुत सुधार करके अपनी स्वार्थ साधना में संलग्न थे।

गरीब किसानों एवं कृषि मजदूरों के आर्थिक दोहन की इस सामाजिक व्यवस्था में छोटे–छोटे जमींदार एवं धनी किसान भी संलग्न थे तथा इसी व्यवस्था का लाभ उठाने के लिए सुदूर ब्रिटेन में निलहे भी पहुंच गये थे। ये सभी मिलकर गरीब किसानों एवं कृषि मजदूरों का खूब दोहन कर रहे थे। वे उन्हें उस हद तक कमजोर रखने में अपने स्वार्थ की पूर्ति होते देखते थे कि वे उनके लिए काम करने भर का दम तो रखे पर उनके विरूद्ध जाने की न तो उत्प्रेरणा, न हिम्मत और न ही शारीरिक ताकत जुटा सके।

गांवों से बाहर हम तात्कालीन बिहार के नगरों की ओर झाँके जहाँ पूरी आबादी के 3 प्रतिशत लेाग थे। हमें वहाँ भी आर्थिक गतिशीलता के पर्याप्त अवसर एवं लक्षण मौजूद नहीं दिखाई पड़ते। उदाहरण के तौर पर बिहार की राजधानी पटना शहर को ही लें। शहर में मुख्य तौर पर नौकरी पेशा पर लोग सरकारी पदाधिकारी थे जो आर्थिक गतिविधियों में अनुत्पादक ही थे। ये लोग जमींदारों के ही सगे–सम्बन्धी थे और उनकी ही नकल करते थे। मारवाड़ी समूह के कुछ साहूकार एवं दूकानदार थे जो आर्थिक उत्पादन में संलग्न न होकर सिर्फ जिन्सों की हेराफेरी

में ही रहते थे। अधिकांश मुस्लिम लोग छोटी–छोटी दुकानदारी को सम्भाले हुए थे। अधिकांशतः मुस्लिम लोग छोटी जाति के मजदूर थे जो रिक्शा या टमटम खींचते थे या इसी तरह के अनुत्पादक कार्यों में लगे थे। कुछ मिलाकर बिहार के शहर भी इसी गरीबी की दो विरोधी पंक्तियों के बीच अनुत्पादकता के चित्र प्रस्तुत करते थे।[5]

उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त सामाजिक–आर्थिक व्यवस्थाओं के लिए ब्रिटिश उपनिवेशवाद काफी जिम्मेवार था। अपने उपनिवेशवादी हितों की रक्षा के लिए ब्रिटिश उपनिवेशवादी ताकतों ने 1793 के स्थायी बन्दोवस्त के द्वारा बिहार में जमींदारी प्रथा को लागू करके उसे रूढ़ एवं अनुत्पादक बनाने में पूरी तरह सक्रिय रहा। स्थायी बन्दोवस्त की प्रकृति एवं उसका विस्तृत विवरण हमारे अध्ययन का विषय नहीं है तथापि उसके द्वारा निःसृत कुछेक प्रमुख परिणामों की ओर ध्यान देना होगा ताकि बिहार के सामाजिक आर्थिक ढ़ाँचे की पकड़ हो सके।

स्थायी बन्दोवस्त ने ही जमींदारों को जमीन का मालिक बना दिया था। इस तरह की व्यवस्था में ब्रिटिश इस्ट इण्डिया कम्पनी का उद्देश्य कम से कम मेहनत में अधिक से अधिक मुनाफा कमाना था। उनके खिलाफ

जाने का मतलब था उनके सामाजिक एवं आर्थिक अस्तित्व की ही समाप्ति। दूसरे शब्दों में, वे एक जटिल सामाजिक एवं आर्थिक प्रक्रिया से आवेष्ठित थे, अपने शोषकों के ऊपर आश्रित थे।[6]

गाँवों में छोटे–छोटे जमींदार एवं धनी किसानों का ही अधिकांश भूमि पर स्वामित्व एवं नियंत्रण रखते थे रूपयों एवं जिन्सों के लेन–देन पर हावी थे और वे ही कृषि श्रमिकों का मनमाने ढंग से पारिश्रमिक हुए थे। उन्हीं की मनमानी से गरीब किसानों एवं कृषक मजदूरों को अपना

श्रम एवं बेगार देना पड़ता था। यद्यपि मध्यवर्गीय किसान इन शोषणों से पूरी तरह पीड़ित नहीं थे तथापि उन्हें भी अनुत्पादक आर्थिक व्यवस्था के दुष्परिणामों से गुजरना पड़ता था और एक बार ऋण के चंगुल में फंस जाने पर उन्हें भी छोटे जमींदारों एवं धनी किसानों के तरह–तरह के शोषणों का शिकार होना पड़ता था।[7]

सामाजिक संरचना में आन्तरिक अन्तरसम्बन्धों का यह शोषण जाल जातिगत परम्पराओं की पृष्ठभूमि में और अधिक मजबूती को ही पा रहा था। उत्तरी बिहार में हिन्दुओं की जनसंख्या ही अधिक थी और इसीलिए सामाजिक संरचना में हिन्दू प्रथाओं, रीति–रिवाजों एवं धार्मिक हिन्दुओं की सामाजिक संरचना में जातिगत वैचारिक दर्शन एवं व्यवहार के अनुसार तथा उनकी आर्थिक स्थिति के मुताबिक केवल ऊँची जातियों के लोग ही तत्कालीन राजनीति में सक्रिय तौर पर भाग ले सकते थे। जातिगत दर्शन एवं व्यावहारिक कार्य–कलापों का एक ऐसा जाल उन्हें उलझाये हुए

था कि वे अपनी जाति से ऊपर उठ कर न तो कोई अर्न्तसम्बन्ध स्थापित कर सकते थे और न ही वे किसी विशेष आर्थिक कार्यक्रमों को आसानी से अपना सकते थे। वे कोई सक्रिय राजनीति भी नहीं कर सकते थे। नीची जातियों को राजनीति में लाने के लिए महात्मा गाँधी को काफी जद्दोजहद से गुजरना पड़ा था।[8] वर्षों की परम्परा के भार से दबे नीची जाति के लोग हीनता की भावना से इतने दब गये थे कि वे अपना सर ही नहीं उठा सकते थे। किसी तरह वे बैरिंगटन जे0 मर की उक्ति के सरीक प्रतीक थे कि किसी भी व्यक्ति को हजारों तरीकों से प्रत्येक दिन यह एहसास कराते रहिए कि वह नीच है, नीच है तो वह नीचता की भावना से ग्रसित होकर वैसा ही काम करने लगेगा।[9]

संदर्भ ग्रंथ–

1. रामाश्रय राय, ''कनफिल्क्ट एण्ड कॉपरेशन इन ए नॉर्थ बिहार भिले'', जनरल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी, 1963
2. एल.एस.एस. ओमेली, दरभंगा, पूर्वोक्त।
3. वही, सारण एवं चम्पारण।
4. वही।
5. स्टीफेन हेनिधम, पूर्वोक्त, पृष्ठ–7
6. रोनाल्ड जे हेरिंग, ''रैडिकल पोलिटिक्स एण्ड रिभोल्यूशन इन साउथ एशिया'', जनरल ऑफ पीजेन्ट स्टडिज, 7.1.1978

7. वाल्टर हाउजर, पूर्वोक्त, अरविन्द एन. दास, पूर्वोक्त, हेनिंघम, पूर्वोक्त, रामनारायण सिंहा, पूर्वोक्त।
8. साक्षात्कार, संस्करण स्वर्गीय श्री ख्याली सिंह, ग्राम–उस्ती, पूर्वी टोला, थाना–पारू, मुजफ्फरपुर, बिहार
9. सोशल ओरिजिन्स ऑफ डिक्टेटरशिप एण्ड डेमोक्रेसी, लार्ड एण्ड पिजेन्ट इन द मेकिंग ऑफ मोडर्न इण्डिया, लन्दन, 1947, पृष्ठ–383